

152

लोक चेतना का राष्ट्रीय मासिक

ISSN 2277-5897 SABLOG
PEER REVIEWED JOURNAL

सबलगा

अक्टूबर 2026 • ₹ 50

नयी पीढ़ी
और
नया भारत

- बंगाली प्रभुत्व और शिलांग का गुस्सा
- नागपुर से गायब नाग नदी
- मताधिकार पर दस्तावेजी पहरा





स्वामी, सम्पादक, प्रकाशक व मुद्रक किशन कालजयी द्वारा बी-3/44, सेक्टर-16, रोहिणी, दिल्ली-110089 से प्रकाशित और लक्ष्मी प्रिण्टर्स, 556 जी.टी. रोड शाहदरा दिल्ली-110032 से मुद्रित।

पत्रिका में प्रकाशित आलेखों में व्यक्त विचार लेखकों के हैं, उनसे सम्पादकीय सहमति अनिवार्य नहीं।

पत्रिका अव्यावसायिक और सभी पद अवैतनिक।

पत्रिका से सम्बन्धित किसी भी विवाद के लिए न्यायक्षेत्र दिल्ली।

नयी पीढ़ी और नया भारत

मुनादी / नयी पीढ़ी के सवालों से घिरती सत्ता : किशन कालजयी 3

अराजनीतिक नहीं, राजनीति की नयी भाषा : अविनाश दास 5

नयी पीढ़ी का भारतीय सन्दर्भ : मार्टिना चक्रवर्ती 8

जेन जेड की गुगली : प्रमोद मीणा 10

मिलती नहीं मजुरी : चेतन कश्यप 12

सपनों और संकटों के बीच : पंकज श्रीवास्तव 14

कृत्रिम बुद्धिमत्ता और नयी पीढ़ी : विजय कुमार 16

नौकरी नहीं, भविष्य चाहिए : मेहजबीन 18

नयी पीढ़ी से लोकतन्त्र के नये सवाल : शान कश्यप 20

बदलता देश और चौराहे पर खड़ा युवा : अम्बेदकर कुमार साहु 22

सृजनलोक

सात कविताएँ : चारुमित्रा, टिप्पणी : मोहसिना बानो, रेखांकन : शेखर 24

देश

पूर्वोत्तर / बंगाली प्रभुत्व और शिलांग का गुस्सा : प्रमोद रंजन 26

बिहार / बाढ़ की विभीषिका और जलनीति : कुमार कृष्णन 29

झारखण्ड/ सोन, समझौता और इम्तिहान : सुधीर पाल 31

स्तम्भ

तीसरी घण्टी / नाटक के कैनवास पर युवाओं के हस्ताक्षर : राजेश कुमार 33

यत्र-तत्र / एक थे विश्वेश्वर : जय प्रकाश 36

देशान्तर / अन्तर्विरोधों के बीच सहमति के स्वर : धीरंजन मालवे 39

परती परिकथा / सत्ता, प्रतिरोध और मध्यस्थता : हितेन्द्र पटेल 41

विविध

शहरनामा / नागपुर से गायब नाग नदी : राजेंद्र रवि 44

साहित्य / हाली की दृष्टि में धर्म और समाज : जफर इकबाल 47

मुद्दा / मताधिकार पर दस्तावेजी पहरा : राकेश कुमार गुप्त 49

जन-गण-मन / एकाधिकारवाद के दौर में मीडिया : सर्वेश कुमार मौर्य 51

सिनेमा / बेबी से बबीता सिंह तक : रक्षा गीता 54

किताब / देश कागज पर बना नक्शा नहीं होता : आदित्य विक्रम सिंह 57

लिये लुकाठी हाथ / तो सम कौन कुटिल, खल, कामी : श्रीकांत आटे 58

रंगसाज / पटचित्र कला की परम्परा : जादोपटिया : आर के नीरद 59

आवरण : शशिकान्त सिंह

अक्षर संयोजन : आशीष कुमार पाठक

अगला अंक : बचपन की खोज

नयी पीढ़ी के सवालों से घिरती सत्ता



नयी पीढ़ी को बताया जा रहा है कि वह देश का भविष्य है। उसे नये भारत की निर्माता कहा जा रहा है। उसके सामने नये एक्सप्रेस-वे, नये शहर, नयी तकनीक, नये डिजिटल मंच और विकास की चमकदार तस्वीरें रखी जा रही हैं। लेकिन जिस युवा के पास डिग्री है और नौकरी नहीं, जिसके हाथ में स्मार्टफोन है लेकिन भविष्य की कोई गारण्टी नहीं,

जिसके सामने प्रतियोगी परीक्षाओं की लम्बी कतार है और पीछे बेरोजगारी का अंधेरा—वह इस चमकदार तस्वीर को किस आँख से देखे? उसका सवाल सीधा है—‘अगर देश बदल रहा है तो मेरी जिन्दगी कब बदलेगी?’ यही सवाल आज की भारतीय राजनीति के सामने सबसे बड़ी चुनौती है।

नयी पीढ़ी को केवल मोबाइल और सामाजिक माध्यमों की पीढ़ी समझना भूल होगी। वह ऐसी दुनिया में बड़ी हुई है जहाँ सूचना की कोई सीमा नहीं। वह एक ही समय में अपने कस्बे की खबर और दुनिया के किसी दूसरे कोने में हो रहे आन्दोलन को देख सकती है। वह सरकार के दावे भी देखती है और अपने आस-पास का खुरदुरा यथार्थ भी। वह विज्ञापन में दिखाए जा रहे रील के भारत को और अपने आस-पास के रीयल भारत को एक साथ देखती है। वह गोदी मीडिया के गुणगान और साहसी यूट्यूबर्स को एक साथ सुनती है। इसी अन्तर से उसके भीतर सवाल पैदा होते हैं। और सवाल अब छोटे नहीं हैं और थोड़े भी नहीं हैं।

शिक्षा कैसी हो? नौकरी कहाँ है? परीक्षा पर भरोसा क्यों नहीं? मेहनत का मूल्य कौन तय करेगा? अवसर किसके लिए हैं? असहमति की जगह कितनी है? लोकतन्त्र में नागरिक की भूमिका केवल मतदान तक क्यों सीमित हो? विकास का लाभ किसे मिल रहा है? और जिस पीढ़ी को बार-बार देश का भविष्य कहा जा रहा है, उसके वर्तमान की जिम्मेदारी कौन लेगा?

ये सवाल किसी एक सरकार, किसी एक राजनीतिक दल या किसी एक विचारधारा तक सीमित नहीं हैं। ये उस पूरी व्यवस्था से हैं जो युवा को कभी उपभोक्ता, कभी मतदाता, कभी आँकड़ा और कभी भीड़ के रूप में देखती है, लेकिन नागरिक के रूप में देखने में हिचकती है। जब भी मौजूदा केन्द्र सरकार से उसके कामकाज, नाकामियों या जनता की किसी मौजूदा समस्या पर सवाल पूछा जाता है, जवाब अक्सर अतीत की ओर मोड़ दिया जाता है—कभी काँग्रेस के शासन की ओर, कभी जवाहरलाल नेहरू की ओर। लेकिन 2026 का युवा जब बेरोजगारी, महँगी शिक्षा, प्रतियोगी परीक्षाओं की अनिश्चितता, असुरक्षित रोजगार, बढ़ती महँगाई और अपने भविष्य की चिन्ता लेकर सवाल करेगा, तो वह जवाबदेही किससे माँगेगा—उनसे, जो दशकों पहले सत्ता में थे, या उस सरकार से जिसके पास पिछले तेरह वर्षों से देश की सत्ता है?

लोकतन्त्र में सरकारें इतिहास की परीक्षार्थी नहीं, वर्तमान की जवाबदेह संस्था होती हैं। अतीत की गलतियों पर बहस हो सकती है, होनी भी चाहिए, लेकिन अतीत को वर्तमान की हर विफलता का स्थायी बहाना नहीं बनाया जा सकता। युवा यह नहीं पूछ रहा कि 1960 में क्या हुआ था। वह पूछ रहा है कि 2026 में उसके लिए क्या है? उसकी पढ़ाई पूरी होने के बाद रोजगार कहाँ है? उसकी मेहनत के बाद परीक्षा क्यों अटकती है? डिग्री के बाद स्थायी

काम क्यों नहीं मिलता? उसकी आय उसके जीवन-यापन की रफ्तार से पीछे क्यों है? और सबसे बड़ा सवाल यह कि जिस भविष्य का सपना उसे दिखाया गया था, वह भविष्य उसके पास कब आएगा? इतिहास का हिसाब इतिहास से लिया जा सकता है पर वर्तमान का हिसाब वर्तमान से ही माँगा जाएगा। हर सवाल का जवाब यदि पिछली सरकारों की ओर इशारा करके दिया जाएगा, तो सवाल और बड़ा होकर सामने आएगा—‘तेरह साल सत्ता में रहने के बाद भी वर्तमान की जिम्मेदारी से कब तक बचा जाएगा?’

यह समय भी कठिन दौर से गुजर रहा है। युद्ध, आर्थिक असुरक्षा, जलवायु संकट, सामाजिक ध्रुवीकरण, भ्रामक सूचना और कृत्रिम बुद्धिमत्ता की तेज होती दुनिया ने आने वाले समय को अनिश्चित बनाया है। विश्व आर्थिक मंच की 2026 की वैश्विक जोखिम रिपोर्ट में भू-अर्थशास्त्रीय टकराव, राज्य-आधारित सशस्त्र संघर्ष, मौसम की चरमावस्था, सामाजिक ध्रुवीकरण और भ्रामक सूचना को प्रमुख जोखिमों में गिना गया है।

भारत की नयी पीढ़ी इन संकटों को केवल समाचार की तरह नहीं देखती। युद्ध की तस्वीर उसके मोबाइल पर है, जलवायु संकट उसके शहर की गर्मी और बाढ़ में है, कृत्रिम बुद्धिमत्ता उसके रोजगार के सवाल के सामने खड़ी है और महँगाई उसके परिवार के बजट में। उसका मानसिक संसार वैश्विक है, भले ही उसकी रोजमर्रा की समस्याएँ स्थानीय हों।

मानव सभ्यता के इतिहास में शायद यह पहली बार हुआ है कि युवा पीढ़ी के सामने विराट सूचना भवन है, लेकिन भरोसेमन्द सूचना चुनने की चुनौती उससे भी बड़ी है। कृत्रिम बुद्धिमत्ता अब केवल तकनीक का विषय नहीं; वह ये सवाल भी खड़े कर रही है कि आने वाले वर्षों में कौन-से काम बचेगे, कौन-से बदलेंगे और किस तरह के नये कौशल की जरूरत होगी। ऐसे समय में शिक्षा को केवल परीक्षा पास करने की मशीन बनाकर नयी पीढ़ी को भविष्य के लिए तैयार नहीं किया जा सकता।

भारत की नयी पीढ़ी की पहली बड़ी माँग विश्वसनीय शिक्षा है। शिक्षा केवल डिग्री का माध्यम नहीं होती, वह जीवन की दिशा तय करती है। राष्ट्रीय शिक्षा नीति ने सार्वजनिक शिक्षा पर केन्द्र और राज्यों के कुल व्यय को सकल घरेलू उत्पाद के 6 प्रतिशत तक ले जाने का लक्ष्य रखा था। लेकिन 2022-23 में यह संयुक्त व्यय लगभग 4.1 प्रतिशत ही था। सवाल है कि जिस पीढ़ी को ज्ञान-आधारित महाशक्ति बनाने का सपना दिखाया जा रहा है, उसके ज्ञान-तन्त्र में सार्वजनिक निवेश इतना कम क्यों है? सरकारी विद्यालयों और विश्वविद्यालयों में शिक्षक चाहिए। प्रयोगशालाएँ, पुस्तकालय, छात्रावास, शोध और छात्रवृत्तियाँ चाहिए। और सबसे जरूरी ऐसा वातावरण चाहिए जहाँ सवाल पूछने वाले को अपराधी और देशद्रोही कहकर दण्डित न किया जाए।

विश्वविद्यालयों में शिक्षक पदों की रिक्तियाँ केवल सरकारी आँकड़ा नहीं हैं। वे विद्यार्थियों के भविष्य में खाली जगह हैं। 2026-27 के शिक्षा क्षेत्र के बजट विश्लेषण में केन्द्रीय विश्वविद्यालयों में प्रोफेसर पदों की लगभग 56 प्रतिशत और एसोसिएट प्रोफेसर पदों की लगभग 38 प्रतिशत रिक्तियों की ओर ध्यान दिलाया गया है।

बहुत विद्यालय और महाविद्यालय ऐसे हैं जहाँ शिक्षक या तो नहीं हैं या नगण्य हैं। पिछले दशक में सरकारी विश्वविद्यालयों की संख्या मात्र 45.4 प्रतिशत बढ़ी और निजी विश्वविद्यालयों की संख्या में 149.3 प्रतिशत

की वृद्धि हुई। यह आँकड़ा स्पष्ट बताता है कि मौजूदा व्यवस्था प्रचण्ड निजीकरण के पक्ष में है। और इसी बदलते परिदृश्य में शिक्षा महँगी होती जाती है, प्रतियोगिता बढ़ती जाती है और परिवार अपनी बचत बच्चों की पढ़ाई पर लगाने के लिए मजबूर होते हैं। नीट, जेईई, एसएससी, रेलवे, यूपीएससी और दूसरी प्रतियोगी परीक्षाओं की तैयारी में लाखों युवा वर्षों लगा देते हैं। परीक्षा में गड़बड़ी, परिणाम में देरी या भर्ती प्रक्रिया का अटकना केवल प्रशासनिक समस्या नहीं। उसके पीछे एक युवा का एक वर्ष, दो वर्ष, कभी-कभी जीवन के सबसे महत्वपूर्ण कई वर्ष चले जाते हैं। इसलिए परीक्षा की विश्वसनीयता केवल शिक्षा मन्त्रालय की फाइल का विषय नहीं है। यह नयी पीढ़ी और राज्य के बीच भरोसे का प्रश्न है।

इसी भरोसे का भयावह चेहरा दिल्ली के सत्य निकेतन में दिखाई दिया। 6 सितम्बर 2026 को दिल्ली विश्वविद्यालय के दक्षिणी परिसर के निकट पाँच मंजिला इमारत, जिसमें निजी छात्रावास चल रहा था, ढह गयी। मृतकों की संख्या सात हुई, जिनमें विद्यार्थी भी थे। घटना के बाद भवन सुरक्षा, निजी छात्रावासों के नियमन और प्रशासनिक निगरानी पर गम्भीर सवाल उठे।

इसे केवल एक निजी इमारत के गिरने की दुर्घटना मान लेना त्रासदी के बड़े अर्थ से आँख चुराना होगा। दिल्ली विश्वविद्यालय में लगभग 2.6 लाख विद्यार्थी हैं, जबकि विश्वविद्यालय और उसके सम्बद्ध कॉलेजों को मिलाकर छात्रावासों में लगभग 7,200 सीटें हैं। बड़ी संख्या में विद्यार्थियों को निजी पीजी और किराये के कमरों पर निर्भर रहना पड़ता है।

मलबे के नीचे केवल सात जीवन नहीं दबे। वहाँ यह सवाल भी दबा हुआ है कि हमारे विश्वविद्यालय विद्यार्थी को डिग्री देने की जिम्मेदारी तो लेते हैं, उसके जीवन की सुरक्षा की जिम्मेदारी क्यों नहीं लेते?

विश्वविद्यालय केवल भवन, पाठ्यक्रम और परीक्षाओं का नाम नहीं; वह ज्ञान पैदा करने, प्रश्न पूछने और समाज के भविष्य की कल्पना करने की जगह है। आज कुछ विश्वविद्यालयों में प्रशासनिक पद भरना ही उपलब्धि मान लिया जाता है, जबकि शैक्षणिक दृष्टि, शोध की स्वतन्त्रता और बौद्धिक वातावरण पर कम चर्चा होती है। कुलपति कौन है, यह महत्वपूर्ण हो सकता है; उससे अधिक महत्वपूर्ण है कि विश्वविद्यालय किस तरह का ज्ञान और दृष्टि पैदा कर रहा है। युवा केवल डिग्री नहीं चाहता। वह ऐसी शिक्षा चाहता है जो उसे दुनिया को समझने, सवाल पूछने और अपने समय की चुनौतियों का सामना करने की क्षमता दे। यदि विश्वविद्यालय केवल प्रमाणपत्र बाँटने वाली संस्थाएँ बन गये, तो नयी पीढ़ी को कृत्रिम बुद्धिमत्ता, जलवायु परिवर्तन, युद्ध, असमानता और लोकतन्त्र से भरी दुनिया के लिए कैसे तैयार करेंगे? शिक्षा का सवाल अन्ततः रोजगार के सवाल से जुड़ता है। नयी पीढ़ी जानती है कि डिग्री जीवन की गारण्टी नहीं। प्रतियोगी परीक्षाओं की भीड़, निजी क्षेत्र की अस्थिरता, महँगी शिक्षा और सीमित अवसरों ने रोजगार को सबसे बड़ा प्रश्न बना दिया है। यही कारण है कि सरकारी नौकरी का आकर्षण आज भी बना हुआ है। यह स्थिरता, नियमित आय और सामाजिक सुरक्षा की तलाश भी है। लेकिन भारत की अर्थव्यवस्था हर युवा को सरकारी नौकरी नहीं दे सकती। इसलिए सवाल यह है कि क्या हम ऐसा व्यापक रोजगार तन्त्र बना रहे हैं, जिसमें निजी क्षेत्र, लघु उद्योग, कृषि, सेवा क्षेत्र, डिजिटल काम और नये उद्यम पर्याप्त सम्मानजनक अवसर पैदा कर सकें?

भारत को विश्वगुरु बनाने का दावा जितनी बार दोहराया जाता है, उतनी बार एक सवाल पूछना चाहिए—विश्वगुरु आखिर बनेंगे किससे? नारों से, धार्मिक प्रतीकों से, ऊँची इमारतों से या ऐसी शिक्षा से जो बच्चे को सवाल पूछना, तर्क करना और दुनिया को समझना सिखाए? किसी देश की असली

ताकत उसके भाषणों में नहीं, उसके विद्यालयों, विश्वविद्यालयों, अस्पतालों और प्रयोगशालाओं में दिखाई देती है। यदि इन बुनियादी संस्थाओं की हालत कमजोर होती जाए और दावे ऊँचे होते जाएँ तो सवाल उठना स्वाभाविक है कि विकास की प्राथमिकताएँ क्या हैं।

2014 के बाद से ही केन्द्र सरकार ने शिक्षा को लेकर अनेक दावे किये। नयी शिक्षा नीति आयी, डिजिटल शिक्षा की बातें हुईं, विश्वविद्यालयों की संख्या बढ़ाने और भारत को ज्ञान की महाशक्ति बनाने की घोषणाएँ हुईं। लेकिन शिक्षा की असली परीक्षा घोषणाओं से नहीं, उस पर खर्च होने वाले सार्वजनिक धन, शिक्षकों की उपलब्धता, विद्यालयों की दशा, विश्वविद्यालयों की स्वायत्तता और विद्यार्थियों को मिलने वाले अवसरों से होती है। और इन मामलों में उपलब्धि निराशाजनक है।

नयी पीढ़ी को केवल चुनाव के समय याद करना पर्याप्त नहीं होगा। यह पीढ़ी किसी एक दल की स्थायी सम्पत्ति नहीं है। वह किसी एक विचारधारा के भीतर पूरी तरह समा जाने वाली पीढ़ी भी नहीं है। वह मुद्दों के आधार पर अपनी राय बनाती है, डिजिटल माध्यमों से सूचनाएँ हासिल करती है, पुराने राजनीतिक दावों को चुनौती देती है और आवश्यकता पड़ने पर सड़क पर भी आती है। हर युवा एक जैसा नहीं सोचता। भारत की नयी पीढ़ी जाति, वर्ग, भाषा, क्षेत्र, लिंग और आर्थिक स्थिति के स्तर पर विविध है, लेकिन शिक्षा, रोजगार, अवसर, सम्मान और भविष्य को लेकर साझा बेचैनी दिखाई देती है। राजनीतिक दलों के सामने अब चुनौती केवल युवाओं को अपने पक्ष में करने की नहीं है। चुनौती यह समझने की है कि युवा राजनीति से क्या चाहता है।

जन्तर-मन्तर का आन्दोलन इसलिए एक घटना भर नहीं था। उसने यह दिखाया कि भारत की नयी पीढ़ी अपने महत्त्व से परिचित हो चुकी है। उसने यह भी दिखाया कि यदि सवाल सच हो, तो सत्ता और विपक्ष दोनों को उसकी ओर देखना पड़ता है। लेकिन किसी आन्दोलन की सबसे बड़ी सफलता किसी एक मन्त्री का इस्तीफा नहीं होती। उसकी सबसे बड़ी सफलता तब होती है, जब उसके बाद व्यवस्था अपने काम करने का ढंग बदलती है। इसलिए जन्तर-मन्तर के बाद असली परीक्षा सरकार की है, विपक्ष की भी है और स्वयं नयी पीढ़ी की भी। सरकार की परीक्षा इस बात की है कि वह युवाओं के सवाल को केवल संकट के समय न सुने, बल्कि नीति निर्माण में उन्हें लगातार जगह दे। विपक्ष की परीक्षा इस बात की है कि वह युवाओं के असन्तोष को केवल सत्ता-विरोध की राजनीति में न बदले, बल्कि शिक्षा, रोजगार और अवसर के ठोस सवालों पर अपनी वैकल्पिक दृष्टि सामने रखे। और नयी पीढ़ी की परीक्षा इस बात की है कि वह अपनी ऊर्जा को केवल विरोध तक सीमित न रखे, बल्कि उस भारत की कल्पना और निर्माण में भी हिस्सेदारी करे जिसकी माँग वह कर रही है। क्योंकि अब भारतीय राजनीति नयी पीढ़ी को नजरअन्दाज करके आगे नहीं बढ़ सकती। उसे सुनना ही नहीं, उसके प्रश्नों को नीति और संस्थाओं में जगह भी देनी होगी। जिस पीढ़ी ने यह बता दिया है कि वह सत्ता को अपने सवालों का जवाब देने के लिए मजबूर कर सकती है, अब राजनीति को यह साबित करना होगा कि वह उस पीढ़ी के सवालों को समझ रही है। नयी पीढ़ी कोई भविष्य की चीज नहीं, वह वर्तमान की राजनीतिक शक्ति है। और नया भारत उसके नाम पर बनाया जाने वाला भारत नहीं होगा। नया भारत वही होगा, जिसे नयी पीढ़ी अपने सपनों, अपने सवालों और अपने संघर्षों से मिलकर बनाएगी और जिसे बनाने की जिम्मेदारी से पुरानी पीढ़ी और वर्तमान सत्ता बच नहीं सकती।



(किशन कालजयी)

अराजनीतिक नहीं, राजनीति की नयी भाषा

अविनाश दास

आवरण कथा

नयी पीढ़ी अराजनीतिक नहीं है, बल्कि उसकी राजनीति के माध्यम और भाषा बदल गये हैं। वह पार्टी, जुलूस और भाषण के बजाय सोशल मीडिया, मीम, वीडियो और रोजमर्रा के सवाल के जरिए सत्ता से संवाद करती है। बेरोजगारी, शिक्षा, जाति, लैंगिक स्वतन्त्रता, धर्म, तकनीक और भविष्य की असुरक्षा उसके राजनीतिक प्रश्न हैं। डिजिटल माध्यम उसे आवाज भी देते हैं और नियन्त्रित भी करते हैं। लोकतन्त्र के लिए साझा तथ्यों और संवाद का बचना जरूरी है। युवाओं को आज्ञाकारी बनाने के बजाय उनके सवाल, असहमति और स्वतन्त्र सोच को स्वीकार करना ही नये भारत की बुनियाद है।



लेखक चर्चित पत्रकार, कवि और फिल्मकार हैं।

+919811908884

avinashonly@gmail.com



नयी पीढ़ी को समझने की सबसे बड़ी दिक्कत यह है कि उसे समझने वाले अधिकांश लोग उस दुनिया की भाषा में सोचते हैं, जो उसके पैदा होने से पहले बन चुकी थी। हम उसे देखते हैं और कहते हैं—मोबाइल में डूबी हुई पीढ़ी। हम उसकी रील देखते हैं, उसका मीम देखते हैं, उसकी टूटी-फूटी हिंग्लिश सुनते हैं, उसके छोटे ध्यान-अन्तराल पर चुटकुले बनाते हैं और बहुत जल्दी फैसला सुना देते हैं कि राजनीति, इतिहास, समाज और विचार जैसे गम्भीर विषयों से उसका कोई रिश्ता नहीं बचा।

लेकिन शायद समस्या नयी पीढ़ी में नहीं है। समस्या हमारी निगाह में है। हम अभी भी राजनीति को वहीं खोज रहे हैं, जहाँ वह तीस या चालीस साल पहले दिखाई देती थी—पार्टी के दफ्तर में, जुलूस में, पोस्टर में, छात्र संगठन में, भाषण में, अखबार के सम्पादकीय में। जबकि सत्ता की जगह बदल चुकी है। और जब सत्ता की जगह बदलती है, राजनीति की जगह भी बदलती है।

आज सत्ता संसद में है, लेकिन केवल संसद में नहीं है। वह आपके मोबाइल की स्क्रीन में भी है। वह उस एल्गोरिदम में है, जो तय करता है कि आप सुबह आँख खुलते ही सबसे पहले क्या देखेंगे। वह उस डेटाबेस में है, जिसमें आपकी पसन्द, भय, गुस्सा, बीमारी, खरीदारी, यात्रा और राजनीतिक रुचि का नक्शा जमा है। वह विश्वविद्यालय की बड़ी हुई फीस में है। वह उस प्रतियोगी परीक्षा में है, जो दो साल तक पूरी नहीं

होती। वह उस नौकरी में है, जिसमें नियुक्ति-पत्र तो मिलता है, लेकिन भविष्य की कोई गारण्टी नहीं मिलती। वह परिवार में है, जो लड़की से पूछता है कि वह किससे प्रेम करती है। वह जाति में है, जो आधुनिकता के कपड़े पहनकर भी विवाह के दरवाजे पर पुरोहित की तरह खड़ी रहती है। वह धर्म में है, भाषा में है, शहर में है, किराये के मकान में है, इण्टरनेट की गति में है और इस बात में भी है कि समाज किसकी आवाज को सामान्य मानेगा और किसकी आवाज को खतरा।

इसलिए पहला प्रश्न यह नहीं होना चाहिए कि नयी पीढ़ी राजनीतिक है या नहीं। पहला प्रश्न यह होना चाहिए कि हम राजनीति को पहचान भी पा रहे हैं या नहीं।

राजनीति चुनाव से बड़ी चीज है

लोकतन्त्र की सबसे सुविधाजनक परिभाषा है—चुनाव। हर पाँच साल में जनता वोट देगी, सरकार बनेगी और लोकतन्त्र चल पड़ेगा। यह परिभाषा सत्ता को बहुत पसन्द आती है, क्योंकि इसमें नागरिक की भूमिका मतदान केन्द्र के दरवाजे पर खत्म हो जाती है। लेकिन लोकतन्त्र वोट डालने से शुरू होता है, खत्म नहीं। लोकतन्त्र का असली प्रश्न चुनाव के अगले दिन पैदा होता है।

क्या चुनी हुई सत्ता से सवाल पूछा जा सकता है? क्या नागरिक कह सकता है कि सरकार गलत है? क्या विश्वविद्यालय के भीतर सरकार की आलोचना देश की आलोचना नहीं

मानी जाएगी? क्या कोई पत्रकार सत्ता के विरोध में खड़ा रहकर भी देशभक्त माना जाएगा? क्या कोई विद्यार्थी रोजगार माँगते हुए यह सवाल पूछ सकता है कि आर्थिक विकास का अर्थ केवल जीडीपी है या उसके जीवन में भी कोई भविष्य है? क्या कोई लड़की अपने शरीर और जीवन पर स्वयं फैसला करने का अधिकार रखती है? क्या कोई दलित नौजवान यह पूछ सकता है कि संविधान में बराबरी लिख देने भर से समाज बराबर क्यों नहीं हुआ?

ये सभी राजनीतिक प्रश्न हैं। और यहीं से नयी पीढ़ी की राजनीति शुरू होती है। वह कई बार किसी राजनीतिक पार्टी की सदस्य नहीं है, लेकिन इसका अर्थ यह नहीं कि वह सत्ता से मुक्त है। बल्कि सच यह है कि शायद किसी भी पिछली पीढ़ी की तुलना में सत्ता उसके जीवन में अधिक गहराई से घुसी हुई है। और इसी कारण उसकी रोजमर्रा की जिन्दगी पहले से अधिक राजनीतिक हो गयी है।

हमें उसकी भाषा सुननी होगी

पुरानी पीढ़ियों की एक आदत होती है। वे अपनी भाषा को गम्भीरता और नयी भाषा को पतन मानती हैं। जो राजनीतिक बात हमने दो घण्टे के भाषण में कही, अगर वही बात कोई बाइस साल का लड़का बीस सेकेण्ड के वीडियो में कह दे, तो हमें लगता है कि उसने विचार को हल्का कर दिया। कभी-कभी भाषा बदलती है, विचार नहीं। कभी-कभी माध्यम छोटा होता है, लेकिन उसके भीतर विस्फोट बहुत बड़ा होता है।

एक मीम सत्ता की उस विडम्बना को उजागर कर सकता है, जिसे राजनीतिक विज्ञान की किताब दस पन्नों में समझाती है। एक लड़की का छोटा-सा वीडियो किसी ऐसे सामाजिक नियम को चुनौती दे सकता है, जिसे परिवार और समाज ने सदियों से सामान्य घोषित कर रखा था। एक छात्र का फोन से रिकॉर्ड किया हुआ दृश्य सत्ता और नागरिक के बीच सम्बन्ध का ऐसा दस्तावेज बन सकता है, जिसे पहले इतिहासकार वर्षों बाद अभिलेखागार में खोजते।

इसलिए रील को केवल मनोरंजन समझना वैसा ही है जैसे कभी छापेखाने को केवल कागज छापने की मशीन समझना। हर नयी तकनीक सूचना का माध्यम भर नहीं बदलती। वह शक्ति का वितरण भी बदलती है।

जिसके हाथ में कैमरा है, वह गवाह हो सकता है। जिसके हाथ में इण्टरनेट है, वह प्रकाशक हो सकता है। जिसके पास एक छोटा-सा अकाउंट है, वह कभी-कभी लाखों लोगों के बीच ऐसा प्रश्न फेंक सकता है, जिसे बड़ी संस्थाएँ दबाना चाहती थीं।

लेकिन यहीं से दूसरी समस्या शुरू होती है।

जिस तकनीक ने नागरिक को आवाज दी, वही उसे नियन्त्रित भी कर सकती है

हम अक्सर डिजिटल दुनिया को स्वतन्त्रता का उत्सव समझते हैं। हर किसी के पास बोलने का मंच है। हर किसी के पास अपनी राय है। हर किसी के पास कैमरा है। यह लोकतान्त्रिक लगता है। लेकिन हमें एक असुविधाजनक प्रश्न पूछना चाहिए—यह मंच किसका है? वह एल्गोरिदम किसका है, जो तय करता है कि किसकी आवाज लाखों लोगों तक जाएगी और किसकी 200 लोगों तक?

हम सोचते हैं कि हम मोबाइल देख रहे हैं। बहुत बार मोबाइल भी हमें देख रहा होता है। वह सीख रहा है कि हमें किस बात पर गुस्सा आता है। किस चेहरे पर हम रुकते हैं। किस तरह की खबर हमें डराती है। किस विचार से हम सहमत हो सकते हैं। किस झूठ को हम सच मानने के लिए पहले से तैयार हैं। यह केवल बाजार की जानकारी नहीं है। यह राजनीतिक शक्ति है।

इतिहास में सत्ता मनुष्य के शरीर पर नियन्त्रण चाहती थी। आधुनिक सत्ता उसके व्यवहार पर नियन्त्रण चाहती है। डिजिटल सत्ता उससे भी आगे जाकर उसके ध्यान पर नियन्त्रण चाहती है। और जिसका आपके ध्यान पर नियन्त्रण है, वह धीरे-धीरे आपकी वास्तविकता की संरचना पर भी असर डाल सकता है। यह नयी पीढ़ी की सबसे बड़ी राजनीतिक लड़ाई हो सकती है। पहले सवाल था—कौन शासन करता है? अब एक नया सवाल जुड़ गया है—कौन तय करता है कि हमें दुनिया दिखाई कैसे देगी?

लोकतन्त्र का संकट तब शुरू होता है जब साझा सच टूटने लगे

लोकतन्त्र में मतभेद कोई दुर्घटना नहीं है। मतभेद ही लोकतन्त्र का जीवन है। आप और मैं किसी नीति पर असहमत हो सकते हैं। किसी

विचारधारा पर असहमत हो सकते हैं। किसी सरकार को लेकर असहमत हो सकते हैं। लेकिन बातचीत के लिए हमें कम से कम इतना साझा संसार चाहिए, जिसमें हम यह मान सकें कि तथ्य जैसी कोई चीज होती है। डिजिटल दुनिया इस साझा संसार को तोड़ रही है।

एक आदमी के मोबाइल में एक देश है। दूसरे आदमी के मोबाइल में दूसरा। दोनों एक ही शहर में रहते हैं, लेकिन उनकी राजनीतिक वास्तविकताएँ अलग-अलग हैं। एक के लिए कोई घटना राष्ट्रीय संकट है। दूसरे की स्क्रीन पर वह घटना आयी ही नहीं। एक को रोज बताया जा रहा है कि उसका धर्म खतरे में है। दूसरे को रोज बताया जा रहा है कि उसका भविष्य खतरे में है। एक को लगता है कि देश इतिहास के सबसे महान समय में प्रवेश कर चुका है। दूसरे को लगता है कि लोकतन्त्र इतिहास के सबसे कठिन समय से गुजर रहा है।

अगर नागरिकों के पास साझा तथ्य ही नहीं बचेंगे, तो सार्वजनिक संवाद कैसे बचेगा? और अगर सार्वजनिक संवाद नहीं बचेगा, तो लोकतन्त्र धीरे-धीरे नागरिकों के बीच बातचीत नहीं, समर्थकों की सेनाओं के बीच संघर्ष बन जाएगा। लोकतन्त्र मतदान से पहले संवाद की व्यवस्था है। अगर संवाद मर गया, तो चुनाव बचा रह सकता है, लोकतन्त्र नहीं।

नयी पीढ़ी को अराजनीतिक कहना सत्ता की सबसे आरामदेह कहानी है

हर व्यवस्था चाहती है कि नागरिक अपनी समस्या को निजी समस्या समझे। नौकरी नहीं मिली? अपना कौशल बढ़ाओ। तनखाह कम है? और मेहनत करो। घर नहीं खरीद सकते? अपनी आर्थिक योजना सुधारो। अकेले हो? मेंडिटेशन करो। उदास हो? ऐप डाउनलोड करो। प्रदूषण है? एयर प्यूरीफायर खरीदो।

व्यवस्था की हर सामूहिक समस्या को व्यक्ति की निजी जिम्मेदारी में बदल देना आधुनिक सत्ता की सबसे प्रभावी चालों में से एक है। क्योंकि जब बेरोजगार नौजवान यह मान लेता है कि उसकी बेरोजगारी केवल उसकी व्यक्तिगत विफलता है, तब राजनीति खत्म हो जाती है। लेकिन जिस क्षण दस लाख बेरोजगार नौजवान समझते हैं कि उनका अनुभव एक साझा संरचनात्मक समस्या है, उसी क्षण राजनीति पैदा हो जाती है।

राजनीति का जन्म वहीं होता है, जहाँ “मैं” पहली बार “हम” में बदलता है। मेरी फीस। मेरी नौकरी। मेरी जाति। मेरी स्वतन्त्रता। मेरी भाषा। और फिर अचानक मनुष्य समझता है—यह केवल मेरी कहानी नहीं है। यही वह क्षण है, जिससे हर सत्ता असहज होती है।

नयी पीढ़ी के गुस्से को समझना होगा

हम अक्सर कहते हैं कि आज के युवा अधीर हैं। सवाल है—धैर्य किस दुनिया के लिए? जिस बच्चे को दस साल की उम्र से बताया जाता है कि उसका जीवन एक प्रतियोगिता है, वह धैर्य कहाँ से लाए? स्कूल के बाद कोचिंग। कोचिंग के बाद परीक्षा। परीक्षा के बाद दूसरी परीक्षा। डिग्री के बाद इंटरनशिप। इंटरनशिप के बाद अनुबन्ध। अनुबन्ध के बाद अनिश्चितता। और इस पूरी यात्रा में उसे लगातार बताया जाता है कि अगर वह पीछे रह गया, तो दोष उसी का है।

हमने उसके सामने सफलता के चित्र बहुत बड़े कर दिये और सफलता तक पहुँचने वाले रास्ते बहुत सँकरे। हमने उसे दुनिया भर की विलासिता मोबाइल पर दिखाई, लेकिन उसके अपने जीवन की आर्थिक सुरक्षा कम कर दी। हमने उसे बताया कि वह वैश्विक नागरिक है, लेकिन नौकरी के लिए स्थानीय सिफारिश अब भी काम आती है। हमने उसे आधुनिकता दी, लेकिन जाति नहीं हटायी। हमने उसे प्रेम की स्वतन्त्रता का सिनेमा दिखाया, लेकिन विवाह में परिवार की सत्ता जस की तस रखी। हमने उसे इण्टरनेट दिया, लेकिन सत्य की गारण्टी नहीं दी। और फिर हम पूछते हैं—यह पीढ़ी इतनी बेचैन क्यों है? बेचैनी उसका चरित्र दोष नहीं है। बेचैनी उस समय का राजनीतिक दस्तावेज है, जिसमें वह जी रही है।

उसके सवाल हमसे अधिक आधुनिक हैं

नयी पीढ़ी की सबसे दिलचस्प बात उसके उत्तर नहीं, उसके प्रश्न हैं। वह पूछती है—किसी लड़की के कपड़े पर समाज की राय क्यों हो? वह पूछती है—जाति अगर पुरानी चीज है, तो शादी के विज्ञापन में आज भी क्यों लिखी जाती है? वह पूछती है—धर्म किसी नागरिक की देशभक्ति तय क्यों करेगा? वह पूछती है—नौकरी

माँगना राष्ट्र-विरोध कैसे हो सकता है? वह पूछती है—विश्वविद्यालय का काम आज्ञाकारी नागरिक बनाना है या प्रश्न करने वाला मनुष्य? वह पूछती है—राष्ट्र और सरकार एक ही चीज क्यों माने जाएँ? वह पूछती है—अगर तकनीक इतनी महान है, तो उसका स्वामित्व कुछ कम्पनियों के पास क्यों है? वह पूछती है—अगर अर्थव्यवस्था बढ़ रही है, तो मेरा भविष्य इतना असुरक्षित क्यों है?

ये मामूली प्रश्न नहीं हैं। ये आधुनिक भारत के वैचारिक केन्द्र पर चोट करने वाले प्रश्न हैं। और शायद इसी कारण नयी पीढ़ी के सवाल हमें कई बार बदतमीज लगते हैं। क्योंकि हर सत्ता, चाहे वह राजनीतिक हो, पारिवारिक हो, धार्मिक हो या सांस्कृतिक, प्रश्न को पहले अनुशासनहीनता कहती है।

लेकिन नयी पीढ़ी को रोमांटिक बनाना भी गलत होगा

यह मान लेना भी मूर्खता होगी कि युवा होना अपने आप प्रगतिशील होना है। हर नयी पीढ़ी अपने समय के पूर्वाग्रह भी विरासत में लेती है। नयी पीढ़ी में जाति है। धार्मिक कट्टरता है। स्त्री-विरोध है। नफरत है। ट्रोलिंग है। भीड़ की हिंसा है। फेक न्यूज है। और सबसे खतरनाक चीज—विचारों को पहचान में बदल देने की प्रवृत्ति है।

जब विचार पहचान बन जाता है, तब मनुष्य तर्क सुनना बन्द कर देता है। किसी राजनीतिक विचार से असहमति अब विचार की आलोचना नहीं रहती, व्यक्ति पर हमला लगने लगती है। यही वह जगह है जहाँ लोकतन्त्र सबसे कमजोर होता है। लोकतन्त्र को केवल बोलने वाले नागरिक नहीं चाहिए। उसे सुनने वाले नागरिक भी चाहिए। असहमति का अधिकार तभी जीवित रह सकता है, जब हम अपने विरोधी के अस्तित्व के अधिकार को भी स्वीकार करें।

असली सवाल है—हमने उनके लिए कैसा भारत बनाया?

हर बुजुर्ग पीढ़ी को युवा पीढ़ी पर टिप्पणी करने से पहले एक नैतिक हिसाब देना चाहिए। हमने उन्हें कैसी शिक्षा दी? ऐसी शिक्षा, जो प्रश्न पूछना सिखाती है या उत्तर याद करना? हमने उन्हें कैसा रोजगार दिया? ऐसा रोजगार, जिसमें

मेहनत के साथ सुरक्षा जुड़ी हो या ऐसा काम, जिसमें मनुष्य हमेशा अगली नौकरी के भय में रहे? हमने उन्हें कैसी राजनीति दी? विचारों की राजनीति या पहचान की? हमने उन्हें कैसा मीडिया दिया? सत्य खोजने वाला या उत्तेजना बेचने वाला? हमने उन्हें कैसी सार्वजनिक भाषा दी? तर्क की या अपमान की? हमने उन्हें कैसी टेक्नोलॉजी दी? मनुष्य को मुक्त करने वाली या मनुष्य के ध्यान को माल में बदल देने वाली? अगर इन सवालों के उत्तर असुविधाजनक हैं, तो नयी पीढ़ी पर मुकदमा चलाने से पहले हमें कटघरे में स्वयं खड़ा होना चाहिए।

नया भारत आज्ञाकारी युवाओं से नहीं बनेगा

नया भारत वह नहीं होगा, जिसमें युवा अपने से पहले की पीढ़ियों के उत्तर याद कर लें। वह भारत नया कैसे होगा? नयी पीढ़ी का सबसे बड़ा ऐतिहासिक अधिकार यही है कि वह हमारे उत्तरों पर विश्वास न करे। वह पूछे। वह सन्देह करे। वह हमारी राष्ट्र की परिभाषा पर प्रश्न लगाए। हमारी नैतिकता पर। हमारी राजनीति पर। हमारी जाति पर। हमारे धर्म पर। हमारे विकास के मॉडल पर। हमारी टेक्नोलॉजी पर। हमारी सफलता की परिभाषा पर। और अन्ततः हमारी पीढ़ी पर भी। क्योंकि किसी समाज का भविष्य उसके युवाओं की आज्ञाकारिता से सुरक्षित नहीं होता। उसकी सुरक्षा उनकी स्वतन्त्र बुद्धि से होती है। जिस दिन कोई समाज अपने युवाओं से कहने लगे कि सवाल मत पूछो, उसी दिन वह अपने भविष्य से कह रहा होता है—नया मत बनो।

नयी पीढ़ी राजनीति से दूर नहीं है। वह शायद राजनीति की उस पुरानी परिभाषा से दूर है, जिसमें नागरिक का काम केवल समर्थन करना था। वह एक ऐसी राजनीति की तलाश में है, जिसमें नागरिक केवल मतदाता नहीं, विचार करने वाला मनुष्य हो। जिसमें राष्ट्र केवल नक्शा नहीं, लोगों के बीच न्यायपूर्ण सम्बन्ध हो। जिसमें स्वतन्त्रता केवल अपना जीवन जीने का अधिकार नहीं, दूसरे मनुष्य की स्वतन्त्रता की रक्षा की जिम्मेदारी भी हो। और जिसमें लोकतन्त्र का सबसे पवित्र शब्द “हाँ” नहीं हो। सबसे पवित्र शब्द हो—क्यों?